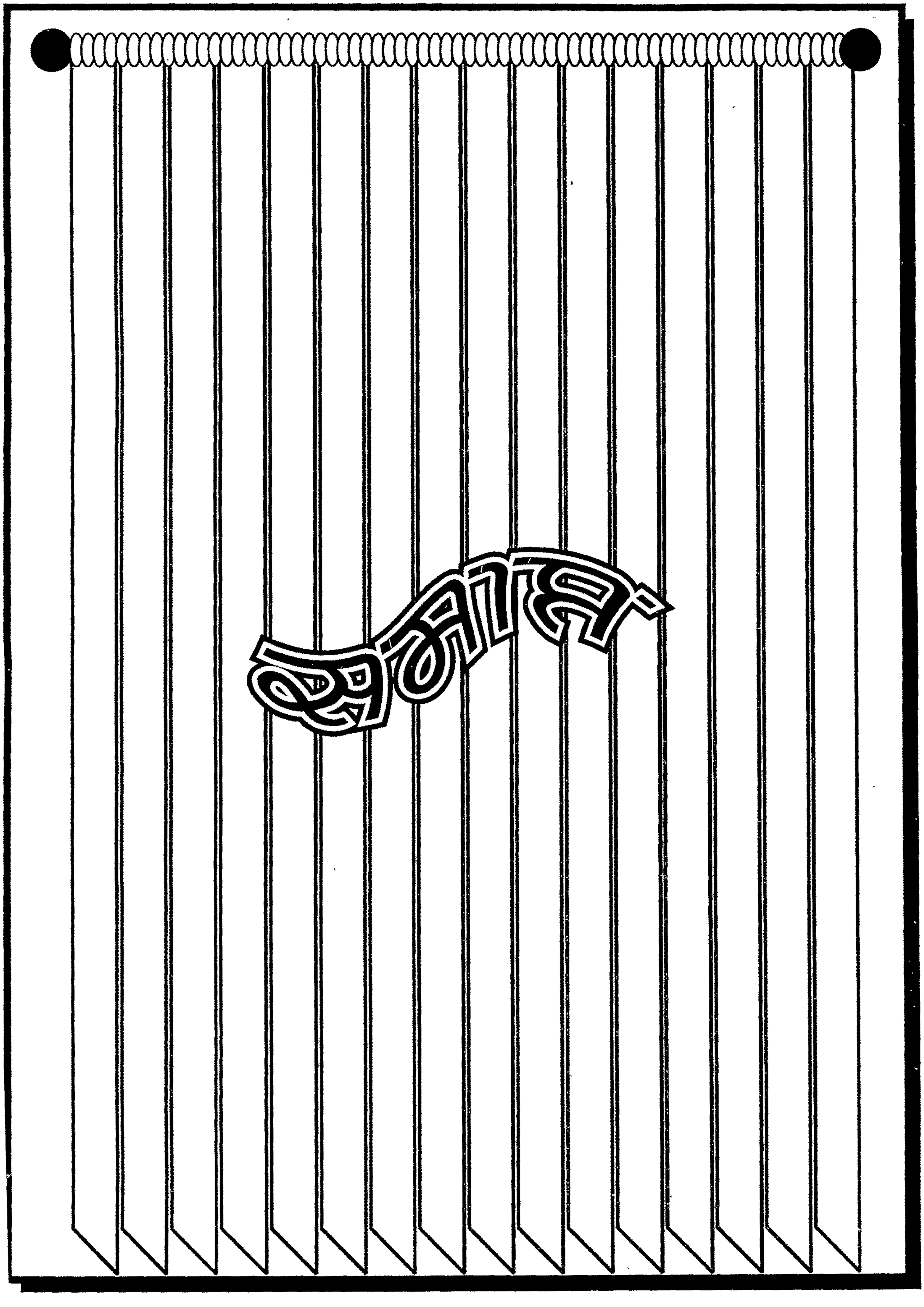
क्षणाशं

SMT. HANSA MEHTA LIBRARY
M. S. University of Baroda

महाराजा सयाजीराव विश्वविद्यालय, बड़ौदा

की पी-एच.डी. (हिन्दी) उपाधि के लिए प्रस्तुत

शोध प्रबंध

"साठोत्तरी हिन्दी नाटकों के रंगमंच का स्वरुप : एक अध्ययन"
(की संक्षिप्त रुपरेखा)

शोध छात्र

कौस्तुभ भारदे

एम. ए.

निर्देशिका

डॉ. शैलजा भारद्वाज

लेक्चरर, हिन्दी विभाग

म. स. विश्वविद्यालय, वड़ोदरा

दिसम्बर - 2002

F.W.CS
A.M. Dalal
30/12/02
DR. (MISS) ANURADHA DALAL
HEAD DEPT OF HINDI
FACULTY OF ARTS
M S UNIVERSITY OF BARODA
VADODARA

DR. Shailja Bharadwaj
Department of Hindi
Faculty of Arts
The M.S. University, Baroda.

साठोत्तरी

हिन्दी नाटकों के

रंगमंच का स्वरूप :

एक अध्ययन

: विषयानुक्रमणिका :

प्रथम अध्याय : भारतीय परम्परागत रंगमंच एक पृष्ठभूमि

- क. भारतीय परम्परागत रंगमंच।
- ख. वैदिक काल का रंगमंच ।
- ग. प्राचीन नाट्यशाला के विभाग ।
- घ. बौद्धकाल ।
- ङ. संस्कृत काल ।
- च. लोककला एवं लोकरंगमंच।

द्वितीय अध्याय : रंगमंच का बदलता स्वरूप

- क. पारसी रंगमंच।
- ख. भारतेन्दु कालीन रंगमंच।
- ग. पृथ्वी थियेटर ।
- घ. एब्सर्ड थियेटर ।
- ङ. बहुधरातलीय रंगमंच ।

तृतीय अध्याय : साठोत्तरी हिन्दी नाटकों का रंगमंच

- क. रंगशाला का शिल्प ।
- ख. विविध दृश्य विधान ।
- ग. प्रकाश योजना ।
- घ. ध्वनि योजना ।
- ङ. नेपथ्य ।

चतुर्थ अध्याय : तकनीकी दृष्टि से रंगमंच का अध्ययन

- क. निर्देशन ।
- ख. समूह संरचना ।
- ग. मंच विधान ।
- घ. वेश विन्यास ।
- च. रूपसज्जा ।
- छ. मुखोटों का प्रयोग ।
- ज. अभिनय ।

पंचम अध्याय : साठोत्तरी हिन्दी नाटकों में रंगमंचीय प्रयोग

- क. छठे दशक के नाटकों में रंगमंचीय प्रयोग ।
- ख. सातवें दशक के नाटकों में रंगमंचीय प्रयोग ।
- ग. आठवें दशक के नाटकों में रंगमंचीय प्रयोग ।
- घ. नवें एवं दसवें दशक के नाटकों में रंगमंचीय प्रयोग ।

षष्ठ अध्याय : लोकनाट्यों के रंगमंच का स्वरूप

क. लोकनाट्य का रंगमंच ।

ख. आधुनिक नाटकों पर लोकनाट्य रंगमंच का प्रभाव ।

ग. लोकनाट्यों के रंगमंच का स्वरूप ।

घ. लोकसंगीत ।

ङ. लोकनृत्य ।

च. लोकनाट्यों का संक्षिप्त परिचय ।

सप्तम् अध्याय : रंगमंचों के स्वरूप

क. मराठी रंगमंच ।

ख. बंगाली रंगमंच ।

ग. गुजराती रंगमंच ।

घ. हिन्दी रंगमंच का बदलता स्वरूप ।

ङ. इलेक्ट्रानिक मीड़िया एवं रंगमंच की भावी सम्भावनाएँ ।

अष्टम् अध्याय : भारत के विभिन्न प्रांतों में रंगसंस्थायें

नवम् अध्याय : उपसंहार

1. अध्ययन का सारांश
2. निष्कर्ष

प्राक्कथन

'काव्येषु नाटकं रम्यम्' कहकर भारतीय काव्यशास्त्रियों ने जिस नाटक विधा की महिमा प्रतिपादित की है यह 'विधा' मुझे आकर्षित करती रही है। 'नाटक' मूलतः अभिनय की कला है, और रंगमंच के साथ इसका सीधा सम्बन्ध है। प्राचीनकाल से लेकर हिन्दी के आधुनिक रंगमंच तक विकास के विभिन्न चरणों की एक सुदीर्घ परम्परा है। भरत का नाटक और उसके रंगमंच पर लिखा वृहद ग्रंथ 'नाट्यशास्त्र' इस बात का सूचक है कि नाट्य रंगमंच की समझ, उसके विकसित स्वरूप की एक समृद्ध परम्परा भारत में विद्यमान थी। हिन्दी रंगमंच साठवें दशक तक आते-आते एवं उसके उत्तरोत्तर दशकों में कैसा स्वरूप ग्रहण कर सका इस पर शोधपरक दृष्टि से अध्ययन करना मेरा मूल ध्येय है।

साठोत्तर युग नाटक एवं रंगमंच के प्रयोगों की दृष्टि से महत्वपूर्ण समय रहा है। परम्परागत रंगमंच को नयी विचारधारा के कलेवर में, नये प्रयोगों एवं नये ढंग की प्रस्तुतियों से इसी दौर ने सजाया है। नये कलेवर में रंगमंच के नये कथ्य, नयी तकनीक, नये प्रयोगों ने मुझे इस क्षेत्र में कार्य करने की प्रेरणा दी। इस शोध के दौरान मुझे भारतीय परम्परागत रंगमंच एवं उसके मूल स्त्रोत की तरफ दृष्टिपात करने का अवसर मिला।

प्राचीन भारतीय परम्परा में काव्य को दो रूपों में बाँटा गया था - दृश्य एवं श्रव्य। नाट्य साहित्य का आनन्द हमें पढकर भी हो जाता है किन्तु इसकी रंगमंच पर प्रस्तुति ही इसकी विशेषता को प्रदर्शित करती है। भारतीय नाट्यशास्त्र में वृत्तियों के विवेचन से भी यह बात प्रमाणित होती है। आचार्य भरत के नाट्यशास्त्र से पहले भी हमें रंगमंच और नाट्यों की रूपरेखा, संवादसूक्तों से मिलती है। 'त्रिपुरदाह', 'सोमक्रमण' की घटना, देवासुर संग्राम में महेन्द्रविजयोत्सव आदि के समय यूपों और जर्जर ध्वज को गाड कर नाट्य खेलने की प्रथा थी। देवताओं के अनुरोध पर रंगशाला व उसके विभागों का निर्माण भी किया गया। बौद्धकाल में भी यज्ञ आदि धार्मिक क्रियाओं के समय नाट्य खेलने के प्रमाण मिले हैं।

संस्कृत काल इस नाट्य एवं रंगमंच की पद्धति को और आगे लेकर बढ़ा। नये-नये कवियों ने उच्चोकोटि के संस्कृत नाट्यों की रचना कर डाली। आम जनता ने अपने खेलने के लिये एक नया रंगमंच बनाया जिसे लोकरंगमंच कहा गया। एक लम्बे व्यवधान से चली आ रही इन नाट्य परम्पराओं को मध्यकाल में पूर्णरूपेण व्यवधान पड़ा जिससे लोकसंस्कृति भी प्रभावित हुई।

19वीं शताब्दी में भारत पर अंग्रेजी साम्राज्य प्रतिस्थापित हुआ तो वे अपनी परम्परा अपने मनोरंजन के लिये भारत में लेकर आये। इसके विरोध में भारत में फिर से एक बार नाट्य एवं रंगमंच के लिये नया युग तैयार होने लगा। इस रंगमंच की नींव रखी भारतेन्दु ने और इसे आगे बढ़ाया प्रसाद के नाटकों और पृथ्वीराज के रंगमंच पर अभिनय ने। धीरे-धीरे पारसी रंगमंच जो अंग्रेजों के आ जाने पर भारत में पनपा और उसका असर भारतीय संस्कृति एवं उस समय के नाटकों पर भी पड़ा था। ऐसा नहीं था कि इस रंगमंच ने हमें कुछ नहीं दिया। एक लम्बे व्यवधान के बाद हमें इस रंगमंच ने ही प्रोत्साहित और उत्साहित किया। अपने एक रंगमंच की आवश्यकता के प्रति इसके लिये जरुरी था साफ-सुथरे अच्छे विचारों के नाटकों के लेखन का जिसे भारतेन्दु, प्रसाद आदि नाटककारों ने साकार किया।

पृथ्वी थियेटर के बाद भारत में व्यावसायिकता का दौर पूर्ण रूपेण रंगमंच पर छा गया। नयी तकनीकी का विकास और नयी-नयी रंगमंच संस्थाओं का निर्माण भारत में होने लगा। रंगमंच पर भी प्रयोग प्रारंभ हो गये जिससे नाटकों के लिये एक रंगमंच (एब्सर्ड, नुक्कड, बहुधरातलीय आदि) तैयार होने लगा। इस प्रकार के रंगमंच पर दर्शकों ने नाटकों का पूर्ण लाभ उठाया।

1960 के बाद यह नाट्य और रंगमंच की विधा एक गहन अध्ययन के रूप में नये-नये विषय लेकर सामने आयी। नाटकों को रंगमंच के लिये लिखा जाने लगा। नयी सोच ने नाट्य एवं रंगमंच के विभिन्न पहलुओं की भी चर्चा की और युवा कलाकारों ने अपने नाटकों में रंगमंच को खोजना प्रारंभ कर दिया। एक नाटक को भाषा, कथानक, रंगविधान, दृश्यविधान, प्रकाश, ध्वनि आदि दृष्टियों से परखा जाने लगा।

इसमें सबसे बड़ा हाथ रहा नयी रंग संस्थाओं के निर्देशकों का जिन्होंने रंगमंच पर प्रयोग कर दर्शकों के सामने सफलता के साथ नाटक को प्रस्तुत किया। नाटक लिखनेवाले रंगमंच की तर्ज पर अपने नाटकों को ढालने लगे। इससे एक बात सामने आयी वह यह कि जागरुक जनता के बीच इन नाट्यकारों ने अपने नाटकों में कला के महत्वपूर्ण पहलुओं पर ध्यान देना प्रारंभ कर दिया।

जब विभिन्न प्रकार के रंगमंच पर इन नाटककारों की नाट्य प्रस्तुतियाँ होने लगीं तो नाटक निर्देशक के सामने तकनीकी दृष्टि से नये-नये यन्त्रों को चलाने का प्रश्न सामने खड़ा था। निर्देशक ने अपनी रंगसंस्था में इसके विभाग बना दिये और सभी को प्रशिक्षण दिया जाने लगा। जो कलाकार जिस किसी 'विधा' में पारंगत हो जाता उसे उसका कार्यभार सौंप दिया जाता है, ताकि वह अपना कार्य लगन एवं मेहनत से करके नाटक को सफल बनाने का कार्य कर सके। निर्देशक अपने नाटक में रंगमंच प्रस्तुति से पूर्व रिहर्सल के दौरान समूह संरचना, मंचविधान, प्रकाश आदि सभी माध्यमों पर अपनी दृष्टि दौड़ाता है ताकि नाट्य को सफलता के साथ प्रस्तुत किया जा सके।

चालीस वर्षों के अपने इस समय में इसमें कई उतार-चढ़ाव आये नये प्रयोग सामने आये। जनता के बीच लोकप्रिय होने का प्रयास किया गाया। इस रंगमंच ने अपना एक अलग दर्शक वर्ग तैयार किया है , जो आधुनिकता तक आने पर भी बना रहा। यह दर्शक दूसरे नवीन माध्यमों की ओर (फिल्में, टेलीविजन) आकर्षित तो हुआ किन्तु वह रंगमंच से अपना नाता नहीं तोड़ सका। समय के साथ-साथ यह रंगमंच प्रादेशिक भाषाओं के रंगमंच में भी विभक्त हुआ जिससे हिन्दी को अपना रंगमंच एकबार फिर खोजने निकलना पड़ा है।

आठवें एवं नवे दशक के बाद हिन्दी नाटकों में एक ठहराव सा आ गया है। सिद्धहस्त नाटककार एवं निर्देशक पुराने नाटकों को ही प्रयोग में ला रहे हैं। नये नाटककार अब इस ओर अपना कदम बढ़ाने से रोक रहे हैं। प्रादेशिक भाषाओं के नाटकों की एक लम्बी कतार लगी हुई है। अतः ऐसे में अनुवादित हिन्दी नाटकों का

दौर रंगमंच पर पुनः आना स्वाभाविक था।

दूसरी ओर रंगमंच की विविधता और अपनी लोकसंस्कृति की महक लोकनाट्य के रूप में दूर-दराज के ग्रामीण अंचलों से साफ आ रही थी। लोकरंगमंच की अपनी सहज पर सुदृढ़ परम्परा ने शिष्ट नाटकों को भी प्रभावित किया है। इस लोक रंगमंच के प्रभाव से ही हिन्दी नाटकों की एक स्वरूप परम्परा चल पड़ी है। प्राचीन समय से चली आ रही यह परम्परा आज भी एक ताजे फूल की तरह अपनी सुगंध फैला रही है। आज जब इस लम्बे काल के बाद संस्कृत आदि नाट्य परम्परायें लगभग समाप्त हो गई हैं, किन्तु लोकरंगमंच की धारा सतत् प्रवाहित है।

लोकनाट्यों ने भी अब आधुनिक रूप धारण कर लिया है। नये विषय नये शिल्प के माध्यमों से लोक परम्परा ने अपने अपने प्रदेशों में वर्चस्व प्रतिस्थापित कर लिया है। आज भले ही विभिन्न प्रदेशों की भाषा अलग-अलग हैं, किन्तु लोकनाट्य का रंगमंच अपनी जगह वैसा ही है आधुनिकता लिये हुये।

रंगमंच को शैशवकाल से लेकर प्रौढ़ अवस्था के बीच कई दौरों से गुजरना पड़ा है। इसलिये रंगमंच के सामने हमेशा उसके खड़े रहने की संभावनाओं पर प्रश्नचिन्ह रहा है। मीडिया ने अपना वर्चस्व रंगमंच पर जमा लिया है जिससे स्वाभाविक तौर पर नाटकों के रंगमंच के लिये खतरा हमेशा बना रहा है। दर्शकों को तीन घण्टे में ही सभी तरह का मनोरंजन फिल्म के पर्दे पर मिलने लगा है तो जनता उस तरफ आकर्षित हुई है, और बहुत बड़ा वर्ग रंगमंच से कट गया है। नाटककारों ने जब अपनी प्रादेशिक भाषाओं में लिखना प्रारंभ किया तो रंगमंच को पुनः जीवनदान मिला है।

हिन्दी नाट्य जगत् आज भी रंगमंच को ढूंढ रहा है। मराठी रंगमंच में आज सबसे अधिक व्यावसायिक तौर पर प्रगति हो रही है और इसके बाद गुजराती, बंगाली रंगमंच अपने व्यवसाय को आगे बढ़ा रहे हैं। किन्तु हिन्दी रंगमंच व्यावसायिक तौर पर आज भी नहीं चल पा रहे हैं। इसलिये भी यह इसके अवसान का कारण बन सकता

है। आज पैसों की कमी के कारण कई हिन्दी नाट्य रंग संस्थाएँ बंद हो रही हैं, और यह समस्या रंगमंच पर हमेशा रही है। इस निराशा के बीच भी आशा की किरण धूमिल नहीं हुई है।

साठ के दशक के बाद आज भारत के विभिन्न प्रान्तों में अनेक नाट्य रंग संस्थायें हैं, जो निरन्तर रंगकर्म से जुड़ी हुई हैं, और अपनी पहचान बना रही हैं।

अतः साठोत्तरी नाटकों के रंगमंच उसके स्वरूप भविष्य की सम्भावनाओं आदि की दृष्टि से शोधपरक अध्ययन करना ही मेरा ध्येय है। इस शोध की रूपरेखा को मैंने नौ अध्यायों में बाँटा है।

प्रथम अध्याय में भारत की प्राचीन रंगमंच परम्परा पर प्रकाश डाला है। नाटक के आरम्भिक बीज हमें वैदिक काल में भी देखने को मिलते हैं। वैदिककाल, संस्कृतकाल, बौद्धकाल आदि से उत्तरोत्तर विकसित होता हुआ रंगमंच किस प्रकार एक स्वरूप ग्रहण कर सका है यह अध्ययन अभिष्ट है।

नाटक के स्त्रोतों का अध्ययन करने पर पाते हैं कि वैदिक काल में विश्वकर्मा ने रंगमंच की प्रतिस्थापना की। इस पर नाट्य खेलने के उद्देश्य से शिव ने ताण्डव, पार्वती ने लास्य और विष्णु ने चार नाट्यशैलियाँ राजा इन्द्र को दीं। इस नाट्यकला का विकास बौद्धकाल में हुआ, जातककथाओं में इस प्रकार के रंगमंच का उल्लेख मिलता है। सिन्धुघाटी की सभ्यता से मिले अवशेषों से भी यह बात प्रमाणित होती है।

संस्कृतकाल तक नाटक एक सम्पन्न 'विधा' के रूप में विकसित हो चुकी थी। संस्कृत काल में रंगमंच पर नाट्य प्रस्तुति से पूर्व ही उसे पूर्ण रूप से सुसज्जित कर दिया जाता था। दस अनुष्ठान किये जाते थे। सम्पूर्ण तैयारी के बाद ही नाट्य को रंगशाला पर प्रस्तुत किया जाता था। रंगशाला को दो भागों में विभाजित कर दिया जाता था। एक भाग जिसमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, शूद्र एवं वैश्यों के बैठने का स्थान सुनिश्चित था। दूसरा भाग अभिनेताओं के अधिकार में रहता था। प्रायः इन नाटकों की

भाषा संस्कृत होती थी। संस्कृनिष्ठ भाषा आम जनता से अलग थी। अत: आम जनता ने अपने लिये खुले आकाश में लकड़ी का चबूतरा बनाया व पेड़ के नीचे ही अपने नाट्यों को खेला। इस प्रकार का रंगमंच देहाती जनता के दैनिक जीवन का एक अंग बन गया। जब संस्कृत नाट्य रंगमंच परम्परा लगभग समाप्त हो गई तो भी यह रंगमंच जनता का मनोरंजन करता चला गया। इसका कारण यह रहा कि लोकनाट्य कभी रंगमंच का मुहताज नहीं था, और ये जनमानस की अपनी चीज थी। लोकनाट्य सहज रूप से उसके ह्रास-विला, हर्ष-विषाद को प्रकट करने की अभिव्यक्ति रही है।

द्वितीय अध्याय में मैंने नाटक और रंगमंच के विकास के विभिन्न पड़ावों का अध्ययन किया है। एक लम्बे व्यवधान के बाद पारसी रंगमंच के आने से रंगमंच को एक नई दिशा मिली। इस रंगमंच के आ जाने से भारत में एकबार फिर तीव्र गति से आन्दोलन छिड़ गया। नये-नये यंत्र, चमत्कृत कर देने वाले दृश्य, नाट्यों में प्रयोग और नई-नई नाट्यशैलियों ने अपना वर्चस्व रंगमंच पर जमा लिया। भारत में एक स्वस्थ नाट्य परम्परा की शुरुआत भारतेन्दु के रंगमंच पर आने से हुई। यह युग भारतेन्दु के नाम से ही जाना जाने लगा। उनके रंगमंच के हिन्दी साहित्यकारों को नाट्य-साहित्य लिखने की ओर प्रेरित किया तथा कई नाट्य-संस्थायें अस्तित्व में आईं। ये नाट्य संस्थाएँ रंगमंच पर ज्यादा प्रदर्शन तो नहीं कर पाई किन्तु पृथ्वी थियेटर ने रंगमंच की परम्परा को भारत में आगे बढ़ाया।

पृथ्वीराज कपूर अपने नाटकों को दूर-दूर लेकर गये और रंगमंच पर इसकी प्रस्तुतियाँ की। 1960 के पश्चात् आर्थिक अभाव के कारण उन्हें इस रंगसंस्था को बंद कर देना पडा।

इस बीच ऐसे नाट्य भी रंगमंच पर प्रदर्शित किये गये जिनमें कथ्य का कोई अतापता नहीं था और ये नाट्य मध्य में खत्म हो जाते थे। इस प्रकार के नाट्यों के लिए एब्सर्ड थियेटर उत्तरदायी रहा। इसके बाद दौर आया नुक्कड़ नाटकों का। समाज में बढ़ते अत्याचारों, रुढि विचारधाराओं और विद्रोह के स्वर को बन्द नाट्यगृह से निकालकर खुली सड़कों पर लाया गया और जगह-जगह ये नुक्कड़ रंगमंच तैयार हो

गये। खुले आकाश में जनता के बीच रहकर उन्हें अपनी बात कहने का अवसर मिला। रात के अंधियारे में खुले आकाश के नीचे जिस रंगमंच ने और जन्म लिया वह आधुनिकता लिये हुए सामने आया, वह था बहुधरातलीय रंगमंच।

तृतीय अध्याय में मैंने 1960 के बाद (साठोत्तरी) के नाटकों का रंगमंच की दृष्टि से अध्ययन किया है। इस समय तक रंगमंच अपनी चरमसीमा तक पहुँच गया था। नाटककार, निर्देशक आदि सभी रंगमंच के लिए नाटकों को लिखने लगे। एक नाटक को शिल्प, दृश्य विधान, प्रकाश-योजना, ध्वनि योजना आदि रंगमंचीय माध्यमों से परखा जाने लगा।

शिल्प की दृष्टि से नाटक को प्रभावशाली बनाने के लिए रंगमंच पर इसका विशेष ध्यान दिया जाता था। रंगकर्मी भी नाटककार के द्वारा प्रयुक्त रंगशिल्प को प्रत्यक्ष व भौतिक आधार देकर उसके स्वरूप को रंगमंच पर अधिक स्पष्टता प्रदान करने लगे। रंगमंच पर नाट्यों के दृश्य-परिवर्तन के समय निर्देशकों ने नई-नई तकनीकों को प्रयोग में लाया है। प्रकाश के माध्यम से या फिर पर्दे के माध्यम से रंगमंच पर चल रहे नाटक में दृश्य परिवर्तित किये जाने लगे। बड़े-बड़े सेट्स रंगमंच पर लगाये जाने लगे।

प्रकाश योजना इस समय नाटक का एक महत्वपूर्ण हिस्सा बन गया था। रंगमंच पर पहले मशालें जला करती थीं। बाद में गैस के हण्डे जलने लगे और जब बिजली आई तो प्रकाश व्यवस्था रंगमंच पर छाने लगी। प्रकाशीय उपकरणों का उपयोग भी रंगमंच पर विभिन्न प्रकार से होने लगा। और यह माध्यम तो इसका विशेष अंग बन गया।

नाटकों के मध्यम संगीत और ध्वनि को समरा-समय पर संयोजित किया जाता था तथा रंगमंच के पीछे होनेवाले कार्यों को नेपथ्य के अंतर्गत रखा जाने लगा।

चतुर्थ अध्याय में मैंने रंगमंच पर आये नये यन्त्रों और नई तकनीक को प्रयोग

रूप में देखा अतः रंगमंच पर इस तकनीकी दृष्टि से अध्ययन पर प्रकाश डाला गया है। निर्देशक की कार्यभूमिका, मंच समूह संरचना, वेश विन्यास, रूप सज्जा,आलोकन आदि को ज्ञान के बिना रंगमंच पर नाट्य की सफल प्रस्तुति नहीं मिल सकती है।

निर्देशन के माध्यम से एक निर्देशक नाटक को रंगमंच पर प्रस्तुत करने से पहले उसकी रिहर्सल करता है। रिहर्सल के दौरान आने वाली कमियों को दूर करता है तथा अपने कार्यों में दक्ष कलाकारों को अपना कार्य सौंप देता है तथा सम्पूर्ण नाटक को एक कड़ी में बाँधने का कार्य करता है। समूह संरचना का नाटक व रंगमंच दोनों ही जगह बहुत महत्व होता है। चूँकि एक रंग नाटक के लिए उसका दृश्य विधान व उसकी परिकल्पना जरुरी है। अतः समूह संरचना जितनी अधिक अर्थवान व स्पष्ट रहती है नाट्य प्रदर्शन भी उतना ही प्रभावशाली बन जाता है।

दृश्यबन्ध में लकड़ी, कपड़े, लोहे, प्लायवुड़ आदि का विशेष महत्व है क्योंकि इसके द्वारा ही रंगमंच पर दृश्यबन्ध तैयार किया जाता है। कुशल तकनीकी जानकारी रखनेवाले कलाकारों को ही यह कार्य सौंपा जाता है। रंगमंच पर इसके अलावा वेश विन्यास व रूपसज्जाकार की महत्ता भी इसलिये बढ़ जाती है क्योंकि मंच पर प्रकाश का प्रयोग संयुक्त रूप से किया जाता है। प्रकाश की तीव्रता चेहरे के भावों को स्पष्ट रूप से प्रस्तुत करती है। वेशभूषा का प्रयोग भी नाट्य के अन्दर इसको ध्यान में रखकर किया जाता है।

आज आलोकन रंगमंच का पर्याय बन चुका है। बिना आलोकन के नाटक निरर्थक लगते हैं। इसलिये इसे बन्द प्रेक्षागृहों में या खुले आकाश में रात को खेला जाता है। नये-नये यन्त्र इस क्षेत्र में आ गये हैं जैसे - फोकस, हेलोजन, स्पॉट लाइट्स, बीम लाईट इत्यादि।

मुखौटों का प्रयोग रंगमंच में अभिनय के साथ किया जाता है। अधिकतर मुखौटे कपडे, प्लास्टिक, पोलिस्टर, फाईबर ग्लास आदि के बने होते हैं। कभी-कभी अभिनेताओं को इन मुखौटों का प्रयोग रंगमंच पर करना पड़ता है।

पंचम् अध्याय में मैंने साठोत्तरी हिन्दी नाटकों में रंगमंच किस प्रकार था इस पर प्रकाश डाला है। चार दशक में नाटक ने कई उतार-चढ़ाव देखे और हर दशक में रंगमंच ही सर्वोपरि रहा है। रंगमंच पर ऐतिहासिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक आदि नाट्यों ने आधुनिक रूप धारण कर लिया था। इन नाटकों को अलग-अलग शैलियों और अलग-अलग रंगमंच पर खेला गया। अब इस रंगमंच के लिये कोई बन्धन शेष नहीं रह गया है।

छठा दशक रंगमंच के उत्थान का दशक था। जिसमें मोहन राकेश, धर्मवीर भारती, जगदीशचन्द्र माथुर आदि नाटककारों ने अपने नाट्यों में रंगमंच को एक सार्थक दिशा देने का कार्य किया। इन नाटककारों ने नाट्य निर्देशकों के साथ मिलकर अपने लिये रंगमंच का निर्माण कराया। जगह-जगह रंगप्रयोग किये जाने लगे। उदाहरण के लिये - अन्धा युग को खण्डहरों में खेला गया तो कोणार्क जैसे ऐतिहासिक नाटक को बन्द नाट्यगृह में खेला गया।

सातवें दशक में भी इन्हीं नाटककारों के नाटकों का जोर था। नये नाटककार नये विषय और नयी नाट्यशैली लेकर आये। यह दशक रंगमंच के लिये सोने की खान साबित हुआ। इस समय के रंगमंच पर नाट्य निर्देशक को अपनी तरह से विभिन्न प्रयोग करने की पूरी छूट मिल गई थी। इसका फायदा भी सफल निर्देशकों ने उठाया। जैसे आधे-अधूरे नाटक में एक ही अभिनेता को चार-चार भूमिकाओं में हमारे सामने रंगमंच पर प्रस्तुत किया जा सकता है। तथा रवि वासवानी जैसे निर्देशक रंगमंच पर अपने नाट्य प्रयोग के दौरान सभी कलाकारों को काले कपड़े पहनाकर एक सफल प्रस्तुति देते हैं।

आठवें दशक में भी रंगमंच पर कई प्रयोग इसी तर्ज पर हिन्दी नाटकों में किये गये, फिर नवें एवं दसवें दशक के नाटकों में रंगमंच तो था परन्तु हिन्दी नाटकों की कमियाँ होने लगी। अधिकतर अनुवादित नाटकों को ही रंगमंच पर खेला गया। कुछ हिन्दी नाटककार निर्देशक भी अनुवादित नाटकों की ओर बढ़े अतः ऐसे समय में भी आज रंगमंच पर हिन्दी नाटकों की प्रस्तुतियाँ निर्विघ्न रूप से चल रही है।

षष्ट अध्याय में मैंने प्राचीनकाल से चली आ रही लोकनाट्य रंगमंच की परम्परा के स्वरूप पर प्रकाश डाला है। यह लोकनाट्य रंगमंच सतत् प्रवाहशील रहा और इसके रंगमंच पर नये आयाम जुड़ते चले गये। आधुनिक हिन्दी एवं अन्य भाषा के नाटकों पर इसका प्रभाव पड़ना स्वाभाविक ही था। इस लोकनाट्य शैली ने संगीत, नृत्य आदि सभी को अपने आधुनिक रूप में ढाल लिया। ये लोकनाट्य प्रदेशों में अपनी-अपनी भाषाओं के अनुरूप प्रस्तुत होने लगे और नयी-नयी लोकनाट्य शैलियाँ रंगमंच पर प्रयोग में लायी जाने लगीं। यह लोकशैली व रंगमंच आधुनिकता लिये हुए था।

जैसे नौटंकी शैली में लिखा गया श्री सर्वेश्वरदयाल सक्सेना का नाटक 'बकरी' है, जिसमें गाँव की समस्याओं को दर्शाया गया है और यह नाटक जब भी बड़े महानगरों में खेला वहाँ के लोकशिल्प भी इसने ग्रहण किये। इसी तरह मणि मधुकर का 'दुलारीबाई' भी कुचामणी ख्याल में लिखा हुआ है। इसमें एक ओर पारसी शैली में संवाद बोलने की प्रथा का भी प्रयोग है, दूसरी ओर लोकगीतों की धुन पर गीत रचना हुई है। इस नाटक में भी लोकनाट्य शैली का प्रयोग किया गया है। इसी तरह अन्य कई नाटक हैं जिन्होंने आधुनिक हिन्दी नाटकों को लोकनाट्यों की शैली में जोड़ दिया तथा गाँवों और महानगरों दोनों ही जगह रंगमंच पर अपने प्रयोग किये हैं। 'आला अफसर' (श्री मुद्राराक्षस), 'चरनदास चोर' (श्री हबीब तनवीर), 'पोस्टर' (डॉ. शंकर शेष) आदि ऐसे ही प्रयोग हैं।

इन आधुनिक हिन्दी नाटकों पर लोकनाट्यों का प्रभाव पड़ने का मुख्य कारण रहा सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिस्थितियाँ। इन परिस्थितियों में लोक रंगमंच ने जनमानस में जागरुकता का संदेश दिया तथा अपनी लोकसंस्कृति को पहचाना। भारत में ब्रेख्त आदि पाश्चात्य नाटककारों के रंगमंच से प्रभावित होकर भी एक नये रंगमंच की तलाश की।

सप्तम् अध्याय मैंने कुछ प्रादेशिक भाषाओं के रंगमंच पर प्रकाश डाला है। मीड़िया के आ जाने से इन रंगमंचों की भावी सम्भावनाएँ क्या होंगी तथा हिन्दी रंगमंच पर इसका क्या प्रभाव पड़ा है उसका विस्तृत वर्णन हमें इस अध्याय में देखने को

मिलता है। व्यावसायिकता की दृष्टि से आज के रंगमंच को देखा व परखा जाने लगा है। अनेक नाट्यकर्मी आर्थिक चुनौतियों का सामना करते हुए भी रंगमंच से पूरी ईमानदारी और समर्पण के साथ जुड़े हुए हैं - 'एकजुट', 'युगमंच', 'भारत भवन', 'रा. ना. विद्यालय' आदि सक्रिय रूप से नाट्य लेखन, निर्देशन एवं प्रस्तुति से जुडे हैं।

अष्टम् अध्याय में मैंने भारत के विभिन्न प्रान्तों में रंगसंस्थाओं का विवरण संक्षिप्त रूप में प्रस्तुत किया है। ये रंगसंस्थायें सरकारी एवं अर्द्धसरकारी दोनों प्रकार की हैं। भारत की इन विभिन्न रंगसंस्थाओं में विद्यार्थियों को प्रशिक्षण दिया जाता है। यह प्रशिक्षण कला के किसी भी क्षेत्र में कार्य करने के लिये दिया जाता है। इन संस्थाओं का योगदान भुलाया नहीं जा सकता।

नवें अध्याय में मैंने उपसंहार के रूप में साठोत्तरी हिन्दी नाटकों में रंगमंच के स्वरूप और विकास को जानने का प्रयास किया है। इसके अन्तर्गत रंगमंच पर आये विभिन्न पडावों और रंगमंच पर बढ़ती नाट्य प्रस्तुतियों को प्रस्तुत किया गया है। निष्कर्ष रूप में मैंने पाया कि आज भी रंगमंच उतना ही प्रभावशाली है जितना पहले रहा होगा। हमारे नाट्य निर्देशकों में केवल मानसिक बदलाव आये हैं तथा कुछ आर्थिक अभाव के कारण इस हिन्दी रंगमंच पर प्रभाव पड़ा जरुर है। इससे यह तो कतई निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता है कि हिन्दी रंग जगत् अब समय की गर्त में खोता जा रहा है। रंगमंच कभी खत्म नहीं होगा, केवल इस पर खेले जाने वाले नाट्यों में बदलाव लाने की ओर ही हमें जोर देना होगा।

अनेक नाट्यकर्मी आर्थिक चुनौतियों का सामना करते हुए भी रंगमंच से पूरी ईमानदारी और समर्पण के साथ जुड़े हुए हैं। 'एकजुट', 'युगमंच', 'भारत भवन' आदि का सक्रिय रूप से नाट्य लेखन, निर्देशन एवं प्रस्तुति में योगदान है। हिन्दी रंगमंच की यह यात्रा भले अनेक ठहरावों से आगे बढ़ रही है, लेकिन इसकी गति सतत रूप से प्रवाहमान है।

अंत में मैं यह कहना चाहूँगा कि हिन्दी नाट्य और रंगमंच पर शोध करने का

मेरा स्वप्न शायद कभी पूर्ण नहीं होता अगर मुझे मेरी श्रद्धेय डॉ. शैलजा भारद्वाज की स्नेह की असीम छाँव नहीं मिलती।

इस शोधकार्य को पूर्ण करने में उनके स्नेह और निर्देशन की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। साथ ही साथ शोधकार्य के दरम्यान आये विघ्नों को बड़ी ही सहजता के साथ दूर करने में अहम् योगदान रहा है। शोधकार्य में अथक् परिश्रम का महत्व मुझे इन्हीं के दिशानिर्देशन की दृष्टि से प्राप्त हुआ है। सम्पूर्ण प्रतिबद्धता के साथ किया गया मेरा यह कार्य उन्हीं के पथ प्रदर्शन का परिणाम है। अत: मैं अपना सम्पूर्ण शोध कार्य अपनी निर्देशिका को समर्पित करता हूँ।

हिन्दी विभागाध्यक्ष डॉ. अनुराधा दलाल के प्रति मैं अपनी हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करना नहीं भूलूंगा क्योंकि उनके मार्गदर्शन ने भी मुझे समय-समय पर प्रोत्साहित किया है। मेरे निराश हो जाने पर उन्होंने ही मुझे उत्साहित किया और अपने कार्य के प्रति लगन एवं मेहनत की शिक्षा दी। अपने अनुस्नातक के दौरान उन्होंने जो प्यार और ममता प्रदान की उसे जीवन में मैं कभी नहीं भूला पाऊँगा। इसके अतिरिक्त मैं आभारी हूँ, गुरुवर डॉ. अक्षयकुमार गोस्वामी, प्रो. पारुकान्त देसाई, डॉ. विष्णु विराट चतुर्वेदी जिन्होंने मेरे कार्य को प्रोत्साहन दिया और अपने ज्ञान की कृपादृष्टि मुझ पर सदैव बनाये रखी। अपने गुरुवरों के प्रति कृतज्ञ हूँ जिन्होंने मुझे प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप से प्रेरणा दी और इस कार्य को सम्पन्न करने का अमूल्य सत्परामर्श प्रदान किया। मेरे शोध कार्य में उनकी प्रेरणा व सहयोग है अत: उन सब के प्रति श्रद्धापूर्वक मैं अपना आभार ज्ञापित करता हूँ।

पूजनीय आई व बापू के स्नेह व आशीर्वाद तथा डाँट-फटकार ने मुझमें हमेशा उत्साह भर दिया, जिससे अपने शोध प्रबन्ध को उनके पावन चरणों में नतमस्तक होकर सुसम्पन्न कर सका।

इसके अतिरिक्त मेरे परिवार में भाई-भाभी के सहयोग को नहीं भूला जा सकता, विशेषकर मेरे बड़े भाई श्री शैलेन्द्र भारदे जिन्होंने मुझे हर क्षण अपने कार्य

के प्रति अभिरुचि बनाये रखी एवं मित्र बनकर मेरी समस्याओं के निराकरण में मेरी मदद की व आशीर्वाद दिया।

मैं स्नेहमयी भाभी सौ. शैलजा भारदे के अप्रत्यक्ष योगदान को नहीं भूल सकता जिन्होंने सदैव ममता की छाँव में मुझे प्रोत्साहित किया।

इसके साथ ही मेरी सौ. प्रेरणा ताई व सुबोध जिजाजी का सहयोग हमेशा मुझे मिला, उनके प्रति भी श्रद्धा से आभार व्यक्त करता हूँ।

श्रीमती हंसा मेहता लायब्रेरी, सेन्ट्रल लायब्रेरी, पुणे युनिवर्सिटी, फरग्यूसन कॉलेज, परफारमिंग आर्ट्स (पूणे एवं बड़ौदा), कालीदास अकादमी (उज्जैन), उज्जैन युनिवर्सिटी का में विशेष आभारी हूँ जिन्होंने मुझे सदैव सहयोग दिया।

वृषाली दातार, दीप्ती भट्ट, प्रफुल्ल पुरोहित, डॉ. श्रीनिवास, डॉ. रामचन्द्र, डालर मेहता, दिपेन्द्रसिंह जाड़ेजा का भी मैं आभारी हूँ जिन्होंने सदैव मुझे अध्ययन को पूर्ण करने की प्रेरणा दी।

अंत में विद्वानों से मेरा नम्र निवेदन है कि शोध की दिशा में किये गये मेरे इस छोटे-से प्रयास को स्वीकार करें और अज्ञानतापूर्ण हुई त्रुटियों को सहृदय से क्षमा प्रदान करें।

विनीत,

कौस्तुभ भारदे